E: ISSN NO.: 2455-0817 RNI No.UPBIL/2016/67980 VOL-3* ISSUE-11*(Part-2) February 2019
Remarking An Analisation

कबीर काव्य की ज्ञानात्मक संवेदना

वीरेन्द्र भारद्वाज
एसोसिएट प्रोफेसर,
हिन्दी विभाग,
शिवाजी कालेज,
दिल्ली, भारत

सारांश

कबीर ज्ञानमार्गी शाखा के सन्त कवि हैं। कबीर का सम्पूर्ण काव्य अज्ञान के तम को दूर कर ज्ञान का प्रकाश फैलाने के भाव को लेकर सामने आता है। प्रेम और ज्ञान के मिश्रण से बनी उनकी कविता जीवन के उद्धार में गुरु के महत्व को स्वीकार करती हुई रहस्यवादिता का पुट लिए हुए आज भी प्रासंगिक है।

मुख्य शब्द : कबीर ज्ञानमार्गी शाखा, सन्त कबीर।

प्रस्तावना

कबीर लब्धसिद्ध साधक हैं। उनका बहुआयामी व्यक्तित्त्व विशाल सागर की तरह अथाह भी है और अनन्त भी। जिसको जैसा अनुभव हुआ उसने उसी के अनुरूप अपनी तुला पर कबीर को तोला, नापा और परखा। अपनी–अपनी दृष्टि विशेष के फ्रेम में सभी ने असीम कबीर को सीमित करना चाहा परन्तु सीमित करने की चिकीर्षा (फ्रेज या बेबसी) अभी भी यथावत् बनी हुई है। इसका कारण यह है कि अपने आप में यह प्रयास भी उसी विशिष्टता की एक कड़ी है। इस बहुआयामी फक्कड़ संत को देखने–परखने के अनेकानेक मानदण्डों के रहते हुए भी यह सर्वविदित है कि कबीर संत हैं उनकी वाणी संत वाणी है। उन्होंने अपनी पूर्ण जागरुकता की अवस्था में जिस तत्त्व का अनुभव किया, जिस सत्य का साक्षात्कार किया उसकी स्वतः स्फुरण वाणी का झरना बनकर फूट पड़ी तभी तो हजारी प्रसाद द्विवेदी को कहना पड़ा कि कबीर वाणी के डिक्टेटर हैं। उनकी अनुभूति अभिव्यक्ति के लिए जब विचलित हुई तब अनायास ही वाणी का सहज प्रवाह फूट पड़ा। उनकी वाणी में जिस सत्य का साक्षात्कार मुखरित हुआ, वह सत्य शुद्ध चौबीस कैरेट सोने की तरह शुद्ध भी है और शाश्वत् भी।

कबीर ने अपने चित्त की जिस अवस्था का चित्रण किया है वह मात्र उनकी नहीं है। वह कबीर का ज्ञानात्मक पक्ष है जिसे उन्होंने बड़े व्यापक एवं प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया है। कबीर की दृष्टि में 'पोथी पढ़' कर कोई ज्ञानी नहीं हुआ और न ही 'चौसठि दीवा जोई करि'[1] से किसी के अन्तःकरण में प्रकाश हो सकता है और न ही 'चौदह चंदा मांही'[2] से ही वृत्ति प्रकाशित हो सकती है अर्थात् चौसठ प्रकार की कलाएँ एवं वेद, वेदांग, शास्त्र में निपुणता ही कुछ घटित कर सकती है, अगर अन्तःकरण में अंधकार समाया है तो। यह अंतःकरण का अंधेरा तो तभी दूर होगा जब यहाँ 'गोविन्द' का प्रवेश होगा। कबीर वाणी में ज्ञानात्मक पक्ष को गोविन्द की कृपा पर आश्रित बताया है। इसके लिए उनके पास सूक्ष्म दृष्टि है। उन्होंने अपने अन्तस में वेदों के सूक्ष्म सार, उपनिषद तत्त्व को समाहित किया हुआ है। उनकी अविकल दृष्टि में सर्वात्मवाद, एकात्मवाद, इस्लाम, सूफीमत एवं अन्य जितनी भी तत्त्वज्ञान की मान्यताएँ हैं, वे अपने दायरे में ही हैं। कबीर साहब ने तो सभी में संसार को ग्रहण किया है जो आत्मसात् होकर उनके मन में गहरा पैठा हुआ है। जब भी कोई अनुभूति साखी या पद रूप में मुखरित होती है उसमें कबीर की छाप स्पष्ट देखी जा सकती है।

कबीर की दृष्टि में ब्रह्म तत्त्व से बड़ा और कोई नहीं है उसे उन्होंने अन्यन्य संबोधनों से पुकारा है। उनके राम भी विशिष्ट हैं और हरि, गोविन्द एवं केशव भी। नाम के पीछे वे जानते हैं कि उनका 'आराध्य', उनका 'प्रिय', उनका 'दोसत' उनका 'खसम' कितना विराट है? वह सृष्टि के कण–कण में समाया हुआ है। वह सत्–चित् आनन्द रूप है, वह अविनाशी है, सनातन है, अजर–अमर है। वे जानत हैं कि उनका वह प्रिय अन्तःकरण की सारी जड़ता को दूर कर अन्तःकरण को प्रकाशित करने का अद्भुत सामर्थ्य रखता है। कबीर ने अपने ऊपर प्रिया के, विरहिणी के, दुलहिन के जो आरोप भी आरोपित किए हैं वे सब अपने ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप प्रिय की प्राप्ति हेतु किए हैं। सर्वप्रथम तो कबीर ने अपने आराध्य का खाका खींचा है जिसमें सम्पूर्ण नामरूप अव्यक्त रूप में मिला हुआ है। अपने प्रिय के विषय में कबीर कहते हैं –

जाके मुँह माथा नहीं, नाहिं रूप कुरूप
पुहुप बास ते पातरा ऐसा तत्व अनूप[3]

मुँह और माथा इसलिए नहीं है क्योंकि वह रूप, रस, गंध और शब्द से रहित है, वह निराकार है परन्तु वह 'अनूप' भी है जिस जैसा अन्य कोई नहीं क्योंकि अद्वैत सत्ता तो एक ही होती है। इसी अद्वैत सत्ता को जिसने जान लिया या पा लिया उसने सब कुछ जान लिया या पा लिया। कबीर के अनुसार–

'एक तै सब होत है, सब ते एक न होइ,
और जे वो एक जांगियां, तो सबहीं अजाणं[4],

अर्थात् उस एक जो जानना तो सब जाणीया जानने जैसा है। उस एक को पाने और जानने का कबीर ने सारा श्रेय अपने गुरु को दिया है। उनकी गुरु की अवधारणा बड़ी स्पष्ट है। गुरु के प्रति पूर्ण समर्पण और श्रद्धा का भाव है तो वहीं जो गुरु गुरुत्व से रहित है उसकी वास्तविकता को कबीर ने बड़ी निर्ममता पूर्वक उजागर भी कर दिया है।

कबीर वाणी में आत्म प्राप्ति के इस मार्ग की बड़ी महत्ता है। उस तक पहुँचने के लिए उन्होंने गुरु को पूर्ण श्रद्धा और समर्पण भाव से देखा है। गुरु और गोविन्द उनके लिए एक समान हैं। गुरु और गोविन्द जब एक साथ खड़े हो जाते हैं तो क्षणभर के लिए कबीर के मन में आता है– 'काके लागू पाय' और तत्क्षण समाधान भी प्रस्तुत हो जाता है 'बलिहारी गुरु आपणै जिन गोविंद दियो बताय' कितनी सरलता और सहजता से कबीर का गुरु, भ्रम निवारण कर देता है। इसका भी रहस्य कबीर ने बखूबी समझ रखा था तभी तो वे कहते हैं–

गुर गोबिन्द तौ एक है, दूजा यह आकार
आपा मेट जीवित मरै, तो पावै करतार ।।[5]

करतार को पाने का श्रेय गुरु को देकर कबीर ने गुरु के ज्ञान का ही सम्मान किया है। गुरु का ज्ञान ही कबीर को 'आपा मेट जीवत मरै' की शिक्षा देता है अर्थात् जीते जी मरना, यह तभी संभव हो सकता है जब 'आपा' यानि कि 'मैं' का विसर्जन हो जाए। जीव की सारी कहानी जिस पर टिकी है वह आपा जब तक अहं की निवृत्ति नहीं होती जीव अपने स्वरूप से वंचित ही रह जाता है इसीलिए कबीर ने गुरु और गोविन्द को समान कोटि में रखा है।

कबीर ने गुरु के लिए विशेष मानदण्ड बनाएं हैं। जो गुरु उन पर खरा उतरता है उसके लिए कबीर ने अपना सर्वस्व समर्पण करने में देरी नहीं लगायी है परन्तु जो गुरु अपनी ज्ञान की महिमा से वंचित है, जो गुरु के नाम पर 'गुरडम' चला रहा है ऐसे प्रपंची गुरु पर कटु वाक् प्रहार करने में कबीर चूके नहीं। कबीर अर्थात् साधक आत्मा के जीवन में गुरु का आना एक वरदान है, ईश्वरीय वरदान– उस ऋण से कबीर अर्थात् साधक आत्मा चाह कर भी मुक्त नहीं हो सकती। कबीर के गुरु ने जो कबीर को दिया है वह और कोई नहीं दे सकता और जो दिया है उस जैसा तत्त्व पूरे संसार में कोई नहीं है। तभी कबीर ने कहा है–

राम नाम कै पटतरै, देवे कौ कुछ नाहिं।
पा ले गुरु संतोषिए, हौंस रही मन मांहि।।[6]

तराजू के एक पलड़े में तो राम का नाम है अब दूसरे पलड़े में ऐसा कुछ भी नहीं जो रखा जा सके। राम के आगे सारे विकल्प हल्के हैं। कबीर का राम सामान्य राम नहीं है अर्थात् उनका राम सृष्टि के कण–कण में समाया हआ है वह सर्वाधिष्ठान है, वह अद्वैत तत्व है, वह एक है, उसके सिवा अन्य कोई है ही नहीं तो दूसरा उसके सामने कहाँ टिक पाएगा। कबीर की उऋण होने की 'हौंस' अर्थात् अधूरी कामना कभी भी पूरी नहीं हो पायी। गुरु को संतुष्ट करने के लिए भी कबीर के पास कुछ नहीं। जिस गुरु ने राम नाम का मंत्र दे दिया और साधक आत्मा को जीते जी भवबंधन से मुक्त कर दिया, उसके सामने सारे विश्व के पदार्थ क्षुद्र हैं, तुच्छ हैं यह है गुरु की महिमा। ज्ञान–प्राप्ति का मार्ग सहज नहीं है, बड़ा कठिन है, वह साधना का पथ है, जिस पर चलते हुए पग–पग पर परीक्षा देनी पड़ती है। गुरु इन समस्त परीक्षाओं को पार कर उस किनारे पहुँचा है। गुरु जिस आसन पर भी बैठता है वह भी सामान्य नहीं है। कबीर ने सतगुरु की महत्ता को प्रकाशित करते हुए कहा है –

चेतनि चौकी बैसि करि, सतगुरु दीन्हाँ धीर
निरभै होइ निसके भजि केवल कहै कबीर।[7]

कि गुरु जिस चौकी पर बैठा है वह न लकड़ी की है न चाँदी या सोने की। यह चौकी है 'चेतनि' की अर्थात् चेतन तो जीव का स्वरूप है, आम तत्त्व है उस पर गुरु का ज्ञान प्रतिष्ठित है। ज्ञान के अधिष्ठान पर गुरु बैठकर शिष्य को धीर अर्थात् धैर्य देता है। गुरु के ज्ञान से जीव में निर्भयता आ जाती है। गुरु के ज्ञान के प्रभाव से अज्ञान का नाश हो जाता है। अज्ञान से मुक्ति ही मोक्ष है। जब जीते जी व्यक्ति मुक्त हो जाता है तब निर्भयता तो जीवन में आयेगी ही।

जीवन में ज्ञान प्राप्ति के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है – माया, सांसारिक आकर्षण। विषय–वासनाओं का यह जंजाल अज्ञानी जीव को पथभ्रष्ट बनाता है। इससे छुटकारा भी गुरु की कृपा से मिलता है। जीव के अन्तःकरण में पड़े हुए अज्ञान के अंधकार का विनाश करने की अद्भुत शक्ति है– गुरु की सीख में। सतगुरु शिष्य के पिछलग्गूपन को दूर कर उसे 'आत्मदीपो भव' बनने की प्रेरणा देता है। जब तक गुरु की कृपा नहीं हुई थी तब तक यह अज्ञानी जीव (पीईं लागा जाई था लोक वेद के साथि)[8] बना हुआ था। तत्त्ववेत्ता के अभाव में जीव लोक वेद का अनुगामी बना कर्मकांड के जाल में फंसा रहा। विधि–निषेध परक सभी क्रियाएँ जड़तापूर्वक चलती रहीं और जब गुरु कृपा होने लगी तब कितना परिवर्तन होता है यह भी कबीर साहब जानते हैं। गुरु जीव के जीवन में आकर उसे स्वयं 'दीपक' बनने की प्रेरणा देते हैं। दीपक हाथ में देना अपने आप में प्रतीक है। अज्ञानी अनेकानेक भटकनों में भटकता है। अँधेरे में ठोकर पर ठोकर लगती है। गुरु के अभाव में जो दुर्गति जीव को झेलनी पड़ती है वह गुरु के ज्ञान से कैसे पलट जाती है यह भी कबीर ने स्पष्ट किया है।

दीपक दिया तेल भरि, बाती दई अघट्ट
पूरा किया बिसाहुणां, बहुरि न आँवौं हट्ट[9]

देखा जाए तो इससे बड़ी ज्ञान की देन और क्या हो सकती है जो कबीर के गुरु ने कबीर को दी है।

कबीर ने सीधी–साधी भाषा में ही प्रतीकों का सहारा लेते हुए गूढ़ से गूढ़ जानोपदेश दे दिया है। यह शरीर भी तो पार्थिव शरीर है, मिट्टी का बना है और दिया भी मिटटी का बना है. मिट्टी के दिए में तेल, बाती का महत्त्व है तो इस पार्थिव शरीर रूपी दिए में रक्त, वत्ति एवं प्राण रूप तेल, बाती है। इसी घट में ही गुरु ने अघट्ट को मूर्त कर दिया। ज्ञान की ज्योति से स्वयं जीव भी ज्योति स्वरूप बन जाए इससे बड़ी उपलब्धि और क्या हो सकती है? अन्तःकरण के प्रकाशित हो जाने पर सार बिसाहुणां अर्थात् व्यापार पूर्ण हो जाते हैं। सारा लेन–देन पूर्ण हो जाता है। जीव के खाते में जो पड़ा है वह सभी खर्च हो जाता है। निष्काम भाव से सारे कर्म करते हुए कर्म के सारे बंधन टूट जाते है। बार–बार जन्म–मरण भटकने के कारण ही जब विनष्ट हो गए तो बार–बार 'हट्ट' जाने से सदा–सदा के लिए मुक्ति मिल जाती है।

मुक्ति प्राप्ति का मार्ग जो कबीर ने बताया है वह बड़ा ही स्पष्ट है। कबीर के पास अपने गुरू का दिया हुआ अक्षय ज्ञान का कोष है। उन्हें यह भली–भाँति ज्ञात है कि जब तक गुरू कृपा नहीं होगी तब तक मुक्ति भी नहीं होगी। गुरु भी पहले शिष्य को, साधक आत्मा को तराशता है। उचित भावभूमि का निर्माण करता है। पुनः महाशक्य का शरसंधान करता है। गुरु का शरसंधान जब सटीक निशाने पर लगता है तब निश्चित ही सुखद परिणाम प्राप्त होता है। सतगुरु को सच्चा 'शूरमा' घोषित करते हुए कबीर कहते हैं –

सतगुरु लई कमांण करि, बाहण लागा तीर
एक जु बाह्या प्रीति सूँ भीतरि रह्या शरीर[10]

कि मेरे गुरु ने बड़े प्यार से तीर चलाया है। यह तीर महावाक्य रूपी तीर है। जिसके माध्यम से जीव (शिष्य) और ब्रह्म की एकता को ज्ञापित करता है। साधक आत्मा के अन्तःकरण को लक्षित करते हुए गुरु जब शरसंधान करता है तो वह ठीक वैसा ही है जैसा कि उपनिषदों में वर्णित है। लक्ष्य है अद्वैत दृष्टि को निर्मित करना, जीवात्मा और परमात्मा की एकता को संकेतित करना। यह ठीक वही दृष्टि है जो– यथा

अहं ब्रह्मास्मि
अयं आत्मा ब्रह्म
तत्वमसि

प्रज्ञान ब्रह्म – इत्यादि ये सभी वाक्य दिखाई देने में छोटे हैं. परन्तु इन्हें 'महावाक्य' की संज्ञा प्रदान की है क्योंकि इनके द्वारा जीवात्मा और परमात्मा की अद्वैतता अथवा अभेदता को ही निर्दिष्ट किया गया है। यहाँ भी कबीर ने अपनी सीधी–साधी सरल भाषा में गुरु के ज्ञान का, महावाक्य के शरसंधान का ही चित्रण किया है। इस तीर की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह 'भीतर रह्या शरीर' में लगा है। गुरु के ज्ञान ने वहाँ अपना कार्य कर दिया। अन्तःकरण में पड़ा यह तीर वहाँ परम जिज्ञासा को भड़काता है। अपनी बात को कबीर अपनी अगली साखी में और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखते हैं –

सतगुरु साँचा सूरिवाँ, सबद जु बाह्या एक।
लागत ही मैं मिल गया, पड़या कलेजै छेक।।
सतगुरु मारया बाण, धरि करि सूधी मूठि।
अंगि उघाडै लागिया, गई दवा हूँ फूटि।।''[11]

कि मेरा गुरु 'साँचा सूरिवां' है अर्थात् समर्थ और शक्तिशाली शूर है जिसे शरसंधान में दक्षता प्राप्त है। यहाँ तो एक ही तीर पर्याप्त है। लक्ष्य है– 'मैं' का विगलन अर्थात् अहं का विसर्जन। 'मैं' गल जाए, अहं से मुक्ति मिल जाए यह मात्रा जीव के वश में नहीं है इसमें ईश्वर कृपा जरूरी है। गुरु कृपा ईश कृपा ही है। परिणाम इसका बड़ा ही सुखद है। 'कलेजै छेक' पड़ जाना ही सबसे बड़ी सफलता है। उत्कट जिज्ञासा सारे मार्ग प्रशस्त करती है। जिज्ञासा प्रचंड रूप धारण करे इसीलिए गुरु ने जो तीर छोड़ा है उसके पहले से भूमिका बनायी है पहले 'धूरि करि सूधी मूठि' का ध्यान रखा है, तीर छोड़ने से पहले अपनी आंतरिक शक्ति को समेट कर पूर्ण एकाग्रता से शरसंधान किया है और यह तीर ऐसा है जिसने लगते ही अंगों को उघाड़ दिया है अर्थात सही निशाने पर लगा है। अब वहाँ जो जिज्ञासा फूटी है दावानल का रूप ले गई है। गुरू का सबसे बड़ा कार्य भी यही है कि वह शिष्य के अन्तःकरण में से खोट को निकालता है। प्रचंड जिज्ञासा सारे रजोगुण और तमोगुण को जलाकर राख कर देती है। इसीलिए कबीर ने साह बने अपने गुरु की तुलना 'लुहार' से करते हुए उसके प्रति अपनी कृतज्ञता का भाव प्रकट किया है। कबीर के अनुसार –

सतगुरु साँचा सूरिवाँ, तातैं लोहिं लुहार।
कसणी दे कंचन किया. ताइ लिया ततसार ।।[12]

पहले गुरु साधक आत्मा (शिष्य) के मन का निर्माण करता है। लुहार की तरह वह मन पिघलाता है। मन की जड़ता को पिघलाना बहुत कठिन कार्य है। इसमें जन्म–जन्मांतरों की जड़ता समायी हुई हैं। काम, क्रोध, लोभ मद के साथ–साथ तमोगुणी और रजोगुणी वृत्तियाँ हम पर अपना अधिकार जमाए रहती हैं। उनसे मन को मुक्त करना, मन का कपट और खोट तपा–तपा कर निकालना यह बहुत बड़ा दायित्व बोध है। गुरु इसे पूर्ण एकाग्रता से हटाने का प्रयत्न करता है। साधक के मन को ज्ञान और विरहाग्नि में तपा कर गुरु इसे 'कंचन' बना देता है। लोहा सोना बन जाए यह गुरु जैसा कुशल लुहार ही कर सकता है। 'तत्त्व' और 'सार' को जड़ता में से निकालकर बाहर लाना यह किसी 'सच्चे सूरमा' का ही कार्य है। कबीर के अन्तर में ज्ञान के इस तेजस्वी रूप को निर्मित करने का श्रेय उसके गुरु को ही जाता है। मानसरोवर के तीर पर बणाजीया कहकर कबीर ने अपने आप को भी सच्चा और सफल व्यापारी घोषित कर दिया। जीव के पास जो मानसरोवर है उसमें से वह प्रायः अपने जीव स्वभाव के कारण मछलियाँ या शंख–घोघे का ही व्यापार करता है। तुच्छ एवं लौकिक विषय सुख तो मछलियाँ और शंख–घोघे ही हैं किन्तु कबीर के गुरु ने, कबीर को इतना सामर्थ्यवान बना दिया कि कबीर तो मानसरोवर के तीर पर बैठा मुक्ति रूपी हीरे को प्राप्त करने का अधिकारी बन बैठा है। यह हीरा ही 'निश्चल निधि' है। यही तत है, यही सार रूप है और इस 'ततसार' को कबीर किसी के साथ बाँटने को तैयार नहीं हैं क्योंकि यह अवस्था तो स्वानुभूति की है, स्वसंवेद्य है। इसे अनुभव किया जा सकता है। यह मूकास्वाद है, यहाँ आकर वाणी भी विश्राम प्राप्त कर लेती है। अंतःकरण के प्रकाशित होने का सुखद परिणाम है स्वविश्रान्ति जन्य

लाभ जिसे कबीर ने अपना लिया है। अपने जीवन में ज्ञानोपलब्धि को प्राप्त कर कबीर स्वभावोक्ति करते हैं, अपने मन की अन्तर्दशा का अन्य साधक आत्माओं से आदान–प्रदान करते हुए कहते हैं कि मेरे अन्तर में तो ज्ञान की आँधी आ गई है. अब भ्रम की सारी 'टाटी उड़ गई हैं', माया इस तेज आँधी में उड़कर कहीं चली गई है। 'दो चित्ते' की 'दो नि' भी गिर गयी है 'मोह बलेंडा' भी टूट गया है, 'तृष्णा छानि' धरती पर आकर गिर गयी है, दुर्मति का भांडा फूट गया है। इस तेज आँधी के पश्चात् अखण्ड आनन्द की वर्षा में कबीर भींज रहे हैं –

संतो भाई आई ग्यान की आँधी रे।
भ्रम की टाटी सबै उडांणी, माया रहै न बाँधी। दुरमति की द्वै थुनी गिरांनी, मोह बलींडा टूटा।
त्रिस्नां छांनि परी धर ऊपरि, कुबुधि का भांडा फूटा।
आँधी पीछे जो जल बूठा, प्रेम हरी जन भींनां ।
कहै कबीर भानं के प्रगटें, उदित भया तम शींना।[13]

आत्म ज्ञान का सूर्य सारे तम का भेदन कर देता है। आंतरिक अज्ञान के नाश के पश्चात् जो आनन्दानुभूति होती है। इसके समक्ष सारे सांसारिक सुख और आकर्षण संलग्न थे उसी समय विशेष पर नाथ और सिद्ध सम्प्रदाय विशेष की हठयोग की साधना प्रणाली का भी जनमानस पर गहरा प्रभाव छाया हुआ था। कबीर ने हठयोग की साधना–प्रणाली को अपनाते हुए उसे अपने रंग में रंग कर प्रस्तुत किया है। हठयोग के दशमद्वार और कुण्डलिनी जागरण को विशेष महत्व दिया गया। कबीर ने दशमद्वार में अनुभूत होते हुए परमानंद का जो परिचय दिया है इस पर भी कबीर वाणी की अपनी छाप स्पष्ट देखी जा सकती है। दशमद्वार में अखण्ड आनन्द की वर्षा को उन्होंने अपने हृदय की ज्ञानात्मक अवस्था के साथ जोड़ कर प्रस्तुत किया है। कबीर ने अपने एक पद में 'दशमेद्वार द्वार ताड़ी लागे' के परिणामस्वरूप 'अलख पुरुष' के ध्यान में लीन होने की दशा का वर्णन किया है जब 'अलख पुरुष' में ध्यान केन्द्रित हो जाता है तब 'काल–कराल–विकट नहीं आवै' की भावना प्राप्त हो जाती है। 'कर्म–भ्रम अध व्याधि' सब अपने आप भुजानि जाते हैं। आन्तरिक ज्ञान–ज्योति के प्रकट होने पर 'जुगन–जुगन को तृषा भुजानि' प्राप्त कर साधक आत्मा 'अमर होहू कबहुं न मरै' की 'चरम अवस्था' को प्राप्त कर आनन्दानुभूति में मग्न होकर रहती है। कबीर के अनुसार–

रस गगन गुफा में अजर झरै अजपा सुमिरन जाप करै।
दसवें द्वारे ताड़ी लागे अलख पुरुष जाको ध्यान धरै

कबीर की ज्ञान साधना का निष्कर्ष अन्ततः अपने आप तक लौटकर आने में है। उनका ब्रह्म या परमात्मा बाहर नहीं उनके भीतर है। यहाँ भटकाव का कोई कारण नहीं और वहाँ तक वे प्रत्येक साधक / आत्मा को पहुँचने का संदेश भी देते हैं। बड़ी ही सीधी–सीधी भाषा में कबीर ने जीव को बता दिया है –

तेरा साईं तुझ में ज्यों पुहुपन में बास
एवं
कस्तूरी कुंडलि बसै मृग ढूंढे बन मांही
ऐसैं घटि–घटि रांम हैं दुनिया देखै नांहीं।''[14]

जन इस प्रिय को, परमात्मा अथवा ब्रह्म को पाने का मार्ग कबीर ने कई बार स्पष्ट किया है। अपने आत्मविचार को रेखांकित करते हुए अपनी ज्ञानात्मकता को कबीर ने स्पष्ट किया है –

जब थें आतम–तत विचारा।
तब निर वैर भया सबहिन थें, काम क्रोध गहि डारा।
व्यापक ब्रह्म सबनि मैं एकै, को पंडित को जोगी
रांणा राव कवन सं कहिये, कवन वैद को रोगी
इनमैं आप आप सबहिन मैं, आप आपसूं खेलै ।
नाना भांति घड़े सब भांडे, रूप धरे धरि मेलै ।।
सोचि बिचारि सबै जग देख्या निरगुंण कोई न बतावै।
कह कबीर गुणी अरु पंडित. मिलि लीला जस गावै।।[15]

देखा जाए तो कबीर के ज्ञानात्मक पक्ष में अद्वैतवाद के ब्रह्म एव प्रेम के भावनात्मक पक्ष को साथ–साथ देखा जा सकता है। उनका सम्पूर्ण प्रयास अपने आप तक सीमित है, कसौटी उनका अपना अन्तःकरण बना है जिसे गुरु ने खोट निकाल–निकाल कर कंचन बनाया है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने कबीर की वाणी में व्याप्त ज्ञान एवं प्रेमयोग के मिश्रित रूप पर टिप्पणी करते हुए सही कहा है कि ''सारांश यह है कि जो ब्रह्म हिन्दुओं की विचार पद्धति में ज्ञानमार्ग का एक निरुपण था उसी को कबीर ने सूफियों के ढर्रे पर उपासना का ही विषय नहीं, प्रेम का भी विषय बनाया और उसका प्राप्ति के लिए हठयोगियों की साधना का समर्थन किया।'' (हिन्दी साहित्य का इतिहास – रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 43)

अध्ययन का उद्देश्य

कबीर की पूर्ण साधना उस अव्यक्त, निर्गुण निराकार सत्ता को पाने की है, जो इस सृष्टि के समस्त क्रियाकलापों को संचालित कर रहा है। कबीर के ज्ञान की असीमितता , और उनका जागरूक व्यक्तित्व दोनों ही तत्व उन्हें विलक्षणीय बनाते हैं। अज्ञान दूर कर ज्ञान की प्रतिष्ठा, समन्वय की स्थापना, जातिगत भेदभाव का उन्मूलन आदि कबीर काव्य की मुख्य विशेषताएँ हैं, और उस परम अनिवर्चनीय सत्ता की प्राप्ति उनका उद्देश्य।

निष्कर्ष

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि कबीर की साधना तम का निराकरण कर सत्त्व का उद्रेक करने वाली है। अज्ञानांधकार से मुक्ति 'जे वो एक जांणियाँ का परिणाम'[16] है। एक को जानकर सब जानने में पूर्ण आस्था प्रकट करते हुए कबीर कहते हैं –

कबीर एक न जांणियां, तो वह जांणयां क्या होइ।
एक तैं सब होत है, सब तैं एक न होइ।।''[17]

बस यह एक जान कर ही उन्हें पूर्ण ब्रह्म का परिचय हो जाता है। पूर्ण ब्रह्म के परिचय के पश्चात् जीवन के सारे दुःख दर्द समाप्त हो जाते हैं। आत्मा निर्मल हो जाती है –

पूरे परचा भया, सब दुख मेल्या दूरि।
निर्मल कीन्हीं आत्मां, ताथै सदा हजूरि।।[18]

अंत टिप्पणी

1. *कबीर ग्रंथावली, पृ. 2.*
2. *वहीं।*
3. *कबीर ग्रंथावली, पृ. 57.*
4. *कबीर ग्रंथावली, पृ. 16.*
5. *कबीर ग्रंथावली, पृ. 3.*
6. *कबीर ग्रंथावली, पृ. 1.*

7. *कबीर ग्रंथावली, पृ. 3.*
8. *कबीर ग्रंथावली, पृ. 2.*
9. *कबीर ग्रंथावली, पृ. 2.*
10. *कबीर ग्रंथावली, पृ. 1.*
11. *कबीर ग्रंथावली, पृ. 1.*
12. *कबीर ग्रंथावली, पृ. 3.*
13. *कबीर ग्रंथावली, पृ. 83.*
14. *कबीर ग्रंथावली, पृ. 130.*
15. *कबीर ग्रंथावली, पृ. 72.*
16. *कबीर ग्रंथावली, पृ. 16.*
17. *कबीर ग्रंथावली, पृ. 16.*
18. *कबीर ग्रंथावली, पृ. 16.*